Research Papers

प्रतिमान
समय समाज संस्कृति

जुलाई–दिसम्बर, 2018 (वर्ष 6, अंक 12)
समाज–विज्ञान और मानविकी की पूर्व–समीक्षित अर्धवार्षिक पत्रिका

प्रधान सम्पादक
अभय कुमार दुबे

सम्पादक
आदित्य निगम, रविकान्त, राकेश पाण्डेय

सम्पादकीय प्रबंधन (मानद)
कमल नयन चौबे

सहायक सम्पादक
नरेश गोस्वामी

सम्पादकीय सलाहकार : धीरूभाई शेठ, राजीव भार्गव, विजय बहादुर सिंह, नामवर सिंह, राधावल्लभ त्रिपाठी, शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी, सुधीर चंद्र, शाहिद अमीन, विवेक शानबाग, किरण देसाई, सतीश देशपाण्डे, गोपाल गुरु, हरीश त्रिवेदी, शैल मायाराम, विश्वनाथ त्रिपाठी, फ्रंचेस्का ओर्सीनी, निवेदिता मेनन, मैनेजर पाण्डेय, योगेंद्र यादव, आलोक राय, उज्ज्वल कुमार सिंह और संजय शर्मा

डिज़ाइन : **मृत्युंजय चटर्जी,** सम्पादकीय सहयोग : **मनोज मोहन,** कम्पोज़िंग : **चंदन शर्मा**

CSDS **भारतीय भाषा कार्यक्रम**
विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस)
29, राजपुर रोड, दिल्ली–110054 फ़ोन : 91.11. 23942199
ईमेल : pratiman@csds.in; वेबसाइट : www.csds.in/pratiman
+
वाणी प्रकाशन

21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002 फ़ोन : 91.11.23273167, 23275710
ईमेल : vaniprakashan@gmail.com; वेबसाइट : www.vaniprakashan.in

यहाँ प्रकाशित रचनाओं का सर्वाधिकार रचनाकारों के पास है, जिसके शैक्षणिक और ग़ैर–व्यावसायिक इस्तेमाल के लिए प्रकाशक से इजाज़त लेने की ज़रूरत नहीं है। अलबत्ता, लेखक /प्रकाशक को इत्तला कर दें तो उन्हें बेहद ख़ुशी होगी।

सेंटर फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ डिवेलपिंग सोसाइटीज़, 29, राजपुर रोड, दिल्ली–110054 के निदेशक संजय कुमार के लिए प्रकाशक एवं मुद्रक अमिता माहेश्वरी, वाणी प्रकाशन, 21–ए, 4695, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002 द्वारा प्रकाशित और ऑप्शन प्रिंटोफ़ास्ट, 41, पटपड़गंज इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली–110092 में मुद्रित। सम्पादक : अभय कुमार दुबे

मूल्य : व्यक्तिगत : ₹ 350, संस्थागत : ₹ 500
विदेशों के लिए : $ 20+डाक ख़र्च अतिरिक्त या किसी अन्य मुद्रा की समकक्ष राशि

ISSN: 2320-8201

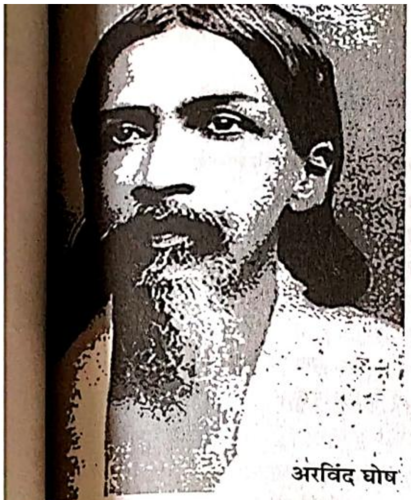

अरविंद घोष

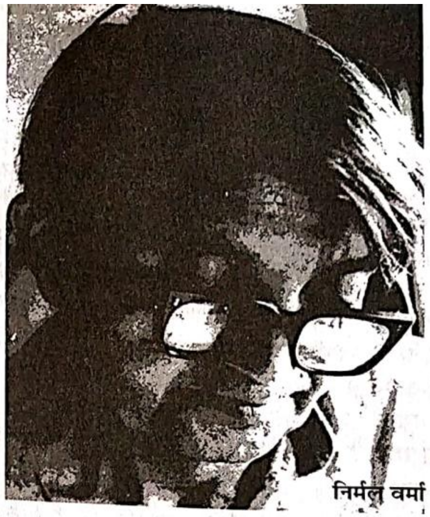

निर्मल वर्मा

कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य

भारतीय मानस का वि–औपनिवेशीकरण

प्रामाणिक संस्कृतात्मा के प्रत्यभिज्ञान* की कार्य–योजना

अम्बिकादत्त शर्मा

भारतीय मानस का वह भाग जो औपनिवेशिक भारतीयता का उत्पाद है, उसके लिए वि–औपनिवेशीकरण एक प्रतिगामी विचार है; और भारतीय मानस का वह भाग जिसमें अपने स्वरूप और साथ ही साथ स्वरूप से विस्थापित होने की आत्मचेतना किसी न किसी रूप में बनी हुई है, उसके लिए वि–औपनिवेशीकरण एक पुरोगामी प्रक्रिया है। यह पुरोगामी प्रक्रिया उनके लिए मानो नीत्शे की 'शाश्वत वापसी' का आह्वान है ताकि अपने सांस्कृतिक आत्म में पुनः प्रतिष्ठ हुआ जा सके। वही सांस्कृतिक आत्म जिसका स्वरूप उपनिवेशवाद के कारण उत्पन्न हुए उन्मूलन और तमाम कर्दम–कलुषों के बीच भी पूरे तौर से कायांतरित नहीं हुआ है। अतः वि–औपनिवेशीकरण के प्रश्न पर दो विपरीत ध्रुवों में दोलायमान भारतीय मानस के साथ संवाद करने के लिए औपनिवेशीकरण के अभिप्राय और अपहितियों को गहरे में उद्घाटित करना होगा। इसके लिए सर्वप्रथम औपनिवेशीकरण और युरोपीयकरण के अर्थ और निष्पत्तियों को अलग–अलग करके समझना ज़रूरी है। इन दोनों के बीच का अंतर अन्य देशों के लिए भले महत्त्वपूर्ण न हो, लेकिन भारत के लिए इनका अंतर विशेष महत्त्व रखता है। औपनिवेशीकरण एक राजनीतिक प्रक्रिया है और उसका लक्ष्य साम्राज्य–विस्तार के लिए परोक्ष–अपरोक्ष तरीक़ों से राजनीतिक आधिपत्य स्थापित कर अपने लाभ के

---

* अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान

मध्य भारती

मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका

ISSN 0974-0066

Platinum Edition

(अंक-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018)

संरक्षक

प्रो. राघवेन्द्र पी. तिवारी

कुलपति

प्रधान सम्पादक

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

सम्पादक

प्रो. निवेदिता मैत्रा

डॉ. आशुतोष कुमार मिश्र

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ. छबिल कुमार मेहेर

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (मध्यप्रदेश) - 470003

दूरभाष : (07582) 264455

ई-मेल : madhyabharti.2016@gmail.com

Modernity, Inter-Religious Conflict and Buddhism

Ambika Datta Sharma

Buddhist paradigm for new world order, global peace and prosperity can be understood in better way by considering the status and role of Buddhism in the present scenario of modernity and inter-religious conflict. Modernity has now a days taken a shape of world civilization. It is a universal proposal of secular world view by delimiting the autonomy of reason. The project of modernity is to eliminate the divine aspect of life and world, and therefore, the genesis and growth of modernity is to be seen in sharp opposition or contrast with religion. Hence, the human life is to be controlled and regulated not by religion or religious faith rather by reason or rationality. Max Weber[1] has rightly pointed out that modernity is a civilizational process and it is a rupture of substantial reason from religious consciousness. The clash of modernity and religion or reason and faith leads us to a predicament expressing itself in the form of fundamentalism. Religious fundament-alism has twin outlets—that is, on the one hand, in the form of inter-religious conflict, and on the other it expresses itself in the mode of religious terrorism contesting with universal proclamation of modernity[2]. We can categorize religion into two—namely protectionist and expansionist in orientation. Hinduism, Judaic and Avesta religion can be placed under protectionist religion which tries to preserve the religion of their own. Hence, protectionist religions do not participate in inter-religions conflict. They seem to be defensive in their protectionist spirit. The expansionist religions include Christianity, Islam and Buddhism. It is only expansionist religions, and at that Christianity and Islam actively participate in inter-religious conflict. There is a tendency to propagate one's own faith inherent in the nature of these religions. This underlying tendency of religions finds its elevation due to the limitless expansion of modernity.

Christianity divides the entire human race into Christian and anonymous Christian and this is based upon the conviction that the crusade of Jesus Christ was for the redemption of entire humanity. Hence, those who have shown their gratitude towards Christ and started living as per the path shown by Christ are Christians, while those persons, who are reluctant at present in expressing their gratitude will repent one day for ungratefulness by proclaiming even themselves to be Christians, are dubbed as a

Madhya Bharti-75, July-December, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 329-333*

मध्य भारती

मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका

ISSN 0974-0066

Platinum Edition

(अंक-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018)

संरक्षक

प्रो. राघवेन्द्र पी. तिवारी

कुलपति

प्रधान सम्पादक

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

सम्पादक

प्रो. निवेदिता मैत्रा

डॉ. आशुतोष कुमार मिश्र

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ. छबिल कुमार मेहेर

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (मध्यप्रदेश) - 470003

दूरभाष : (07582) 264455

ई-मेल : madhyabharti.2016@gmail.com

सच्चिदानंद ब्रह्म और आनंद-विद्या

सविता गुप्ता

तत्त्व अन्वेषण की प्रत्यक्-विश्लेषण-प्रवण प्रणाली से मनुष्य को आत्म तत्त्व के रूप में अन्तःस्थित सत्य प्राप्त हुआ तो पराक् बाह्य जगत् के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण से परम तत्त्व मिला ब्रह्म। ब्रह्म के स्वरूप विवेचन को लेकर विभिन्न विचारकों के मतानुसार अनेक धारणाएँ विकसित हुई। जिन्होनें अपनी पूर्ववर्ती विषयक चरम तत्त्व की धारणा की अपेक्षा अधिक स्पष्ट व्याख्या की। अन्ततः निर्गुण ब्रह्म की धारणा विकसित हुई और सुदृढ़ बनी। इसी निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन सच्चिदानंद रूप से किया गया जिसमें सत्, चित् और आनंद अखण्डैक रस है। ब्रह्म[1] शब्द 'वृह' धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है वृद्धि। 'वृह' धातु से व्युत्पत्ति सिद्ध ब्रह्म नित्यत्व, शुद्धत्व, प्रकाशत्व, रसत्व, निरतिशयत्व आदि अर्थ का भी द्योतक है। ब्रह्मनंद सरस्वती[2] शुद्ध की व्याख्या करते हैं कि ब्रह्म राग-द्वेषादि अशुद्धि से रहित है। ब्रह्म के शुद्ध होने का तात्पर्य उसके निर्धर्मक होने से भी है। ब्रह्म निराकार, निर्विकार, निर्विशेष, निर्गुण, अविनाशी, सत्, चैतन्य व आनंद स्वरूप है। उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म के स्वरूप के विश्लेषणाधार पर मुख्यतः पाँच पक्ष दृष्टिगोचर होते है - एकत्व या अद्वयत्व, सत्व, चित्व, आनंदत्व और निर्गुणत्व। उपनिषदों में ब्रह्म का निरूपण विधि और निषेध दोनों ही रूपों से किया है। विधि रूप में ब्रह्म सब कुछ और समग्र संसार के कारण का मूल स्त्रोत होने के साथ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सृष्टिकर्त्ता, सर्वान्तर्यामी आदि गुणों से युक्त है। वहीं निषेध रूप में 'नेति-नेति' (वह यह नहीं है) कह कर उसका प्रतिपादन किया है। निषेध वाक्य निर्गुण ब्रह्म और विधि वाक्य सगुण ब्रह्म के प्रतिपादक है जो ब्रह्म के पर और अपर रूप को बताते है। इसके साथ ही ब्रह्म का संकेत देने के लिए उसके स्वरूप और तटस्थ लक्षणों का उल्लेख भी उपनिषदों में मिलता है। स्वरूप लक्षण वह हैं जो तत्त्व की वास्तविक प्रकृति का संकेत देते हैं और तटस्थ लक्षण तत्त्व की प्रकृति नहीं बताते बल्कि उसकी ओर अभिमुख करने का संकेत करते है। स्वरूप लक्षण के अन्तर्गत ब्रह्म का सच्चिदानंद होना आता है एवं जगत को लेकर ब्रह्म में जितने भी विश्लेषण (सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता, संहारकर्त्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान इत्यादि) लगाये जाते हैं वह ब्रह्म के तटस्थ लक्षण कहलाते हैं।

I

ब्रह्म का स्वरूप है ''सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म''[3] सत्य, ज्ञान और अनन्त। अनन्तता में आनंद भी है। दोनों में कोई भेद नहीं है इसलिए कहीं-कहीं ब्रह्म को सच्चिदानंद भी कहा है। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण से किन्हीं विशेष गुणों या धर्मों का प्रतिपादन नहीं वरन् विरोधी धर्मों का निवारण किया जाता है। सत् पद असत्, चित्

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 146-150*

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

*मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक*

वर्ष 32, अंक 1
जनवरी-जून, 2018

अद्वैत पद्धतिशास्त्र : मानवतावादी ज्ञान-विनिर्माण का पद्धतिमूलक विमर्श

अम्बिकादत्त शर्मा
विश्वनाथ मिश्र

किसी भी ग्रन्थ, समाज, संस्कृति और सभ्यता का अध्ययन कैसे किया जाय और इसके लिए किस प्रकार की अध्ययन पद्धति को अपनाया जाय, यह आज भी अकादमिक बहस का एक विशिष्ट क्षेत्र बना हुआ है। इस दिशा में पश्चिम में बुद्धिवाद, अनुभववाद, व्यवहारवाद, प्रत्यक्षवाद, संवृत्तिशास्त्र, उत्तर–आधुनिकतावाद, नारीवाद एवं द्वन्द्ववाद जैसी अनेक पद्धतियों का विकास हुआ है। इसी तरह परम्परागत भारतीय दार्शनिक साहित्य में भी पद्धतिशास्त्रीय दृष्टि से अनेक विधाओं के संदर्भ प्राप्त होते हैं। इन्हें अध्यारोप–अपवाद पद्धति (अद्वैत वेदान्त), प्रसंगापादन पद्धति (माध्यमिक बौद्ध), अमराविक्षेप पद्धति (संशयवादी), उद्देश्य–लक्षण–परीक्षा पद्धति (न्यायशास्त्र) और वाक्यार्थ–निर्णय पद्धति (मीमांसा दर्शन) के रुप में दर्शन सम्प्रदायों में मान्यता मिली है। पश्चिमी चिन्तन परम्परा में और तद्नुरूप भारतीय चिन्तन परम्परा में भी दार्शनिक संवर्गों का एक व्यापक समूह 'प्रत्यक्ष' को ज्ञान के सबसे प्रभावी स्रोत के रूप में मान्यता प्रदान करने हेतु व्यापक उपक्रम किया है। अरस्तू की त्रिपदीय तर्क प्रणाली और न्याय दर्शन की पंचपदीय तर्क प्रणाली इस तथ्य के प्रमाणभूत सन्दर्भ हैं। किन्तु, भारतीय तर्क प्रणाली में प्रत्यक्ष आधारित ज्ञान को बाधित करने वाले तत्त्वों की भी विशेष रूप से चर्चा हुई है। प्रत्यक्ष की विभिन्न परिभाषाओं (लक्षणों) और प्रत्यक्षाभास तथा भ्रम पर केन्द्रित व्यापक परिचर्चा के माध्यम से भारतीय दर्शन में प्रत्यक्षजन्य ज्ञान की कमियों को भी रेखांकित करने का प्रयास हुआ है। वस्तुतः बहुविध ख्याति–सिद्धान्तों के द्वारा भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमाओं का ही उल्लेख हुआ है। पश्चिम में भी अरस्तू के समय से ही प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमाओं को समझने का उपक्रम होता रहा है। स्वयं उन्हीं के द्वारा प्रणीत सोद्देश्यता सिद्धान्त एवं कारणता सिद्धान्त के

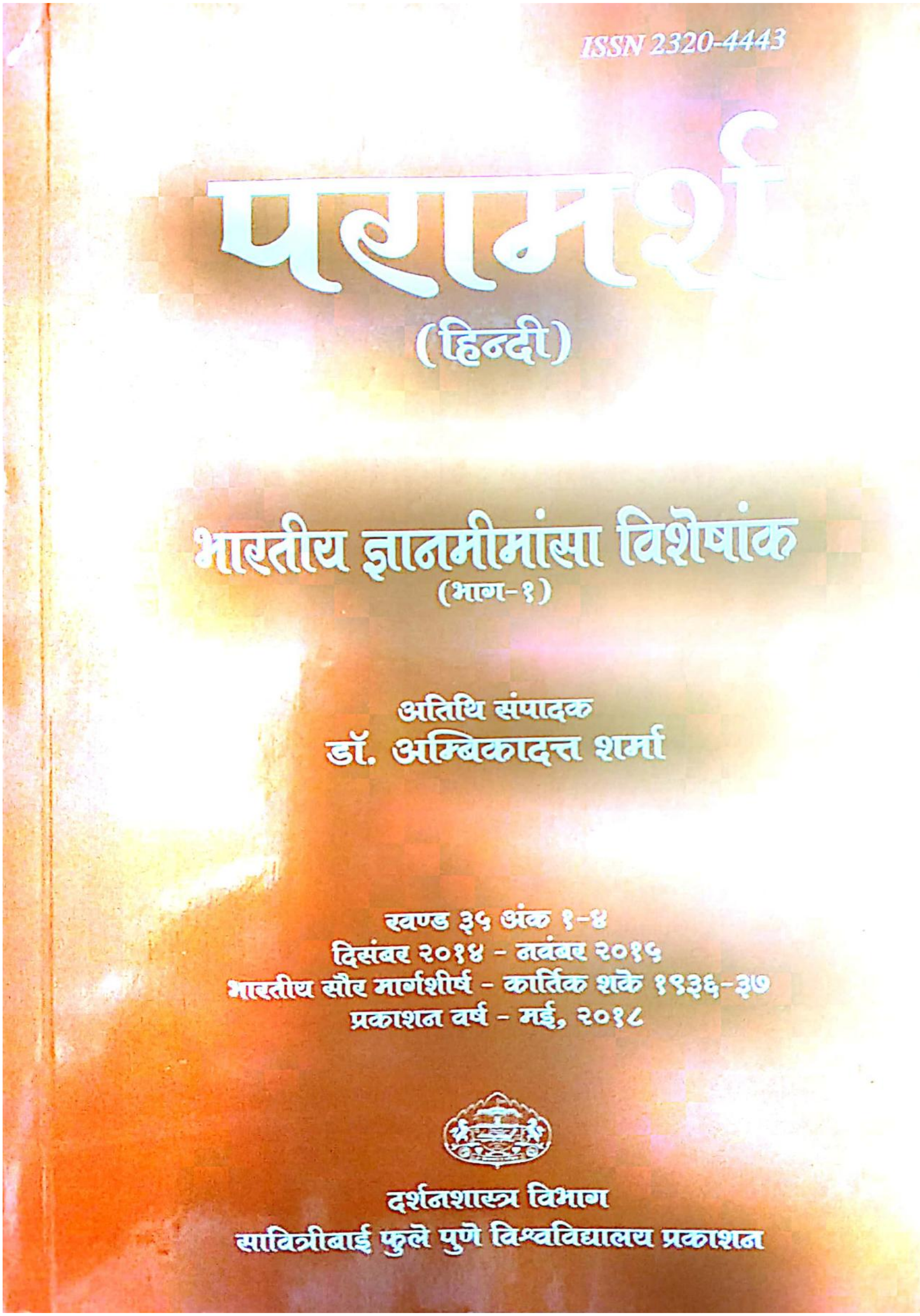

ISSN 2320-4443

परामर्श

(हिन्दी)

भारतीय ज्ञानमीमांसा विशेषांक

(भाग-१)

अतिथि संपादक
डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा

खण्ड ३५ अंक १-४
दिसंबर २०१४ - नवंबर २०१५
भारतीय सौर मार्गशीर्ष - कार्तिक शके १९३६-३७
प्रकाशन वर्ष - मई, २०१८

दर्शनशास्त्र विभाग
सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा

नमः प्रामाण्यवादाय मत्कवित्वापहारिणे

मनुष्य प्रेक्षावन्त प्राणी है। प्रेक्षावन्त मनुष्य से अवर स्तर के प्राणी भी होते हैं। परन्तु मनुष्य की विशेषता यह है कि वह अपनी प्रेक्षाओं के प्रति आत्मचेतन होता है। इस कारण वह प्रेक्षाओं की पूर्ति के लिए हेय और उपादेय बुद्धि पूर्वक अवांछित वस्तु की वर्जना और वांछित वस्तु को प्राप्त करने में प्रवृत्त होता है। इन दोनों प्रकार की प्रेक्षाओं का जो इष्ट है, उसमें प्रवृत्ति और उसकी सिद्धि के लिए उसका ज्ञान होना आवश्यक है। ज्ञान को इसीलिए व्यवहार मात्र के प्रति साधारण निमित्त कारण माना जाता है। परन्तु यह ज्ञान व्यवहार का निमित्त होते हुए भी प्रेक्षित वस्तु की सिद्धि हठात् नहीं कराता। उसकी भूमिका मात्र ज्ञापक की होती है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो ज्ञान प्रेक्षित वस्तु की सिद्धि का कारक हेतु नहीं बल्कि ज्ञापक हेतु होता है। यदि वह कारक हेतु होता तो किसी वस्तु को जानने का मतलब उसे प्राप्त करना भी होता। तब ज्ञान और उसके विषय की प्रापकता को लेकर व्यभिचार और अन्यथात्व की कोई सम्भावना ही नहीं बनती। इस तरह ज्ञान को लेकर प्रामाण्याप्रामाण्य की विवक्षा भी नहीं होती। परन्तु ज्ञान को लेकर प्रामाण्याप्रामाण्य की विवक्षा आवश्यक रूप से हुआ करती है, क्योंकि एक ओर वह प्रेक्षित वस्तु के प्रति ज्ञापक हेतु होता है और दूसरी ओर उसकी ज्ञापकता निःसंदिग्ध हो, यह आवश्यक नहीं। इस कारण व्यवहार में प्रेक्षित वस्तु कभी प्राप्त हो जाती है और कभी नहीं भी होती। वस्तुतः किसी भी ज्ञान में उसके स्वरूप की ज्ञापकता जितनी सुनिश्चित होती है उतना ही सुनिश्चित उसके विषय की ज्ञापकता नहीं होती। प्रामाण्य और अप्रामाण्य का प्रश्न किसी ज्ञान के स्वरूप की ज्ञापकता को लेकर नहीं बल्कि ज्ञान के विषय की सुनिश्चित ज्ञापकता को लेकर ही उठता है। इसीलिए ज्ञान का वह स्वरूप जिसमें उसके विषय की ज्ञापकता सुनिश्चित होती है, उसी में प्रामाण्य और जिसमें सुनिश्चित नहीं होती, उसमें अप्रामाण्य माना जाता है। ज्ञान के इसी प्रामाण्याप्रामाण्य के सापेक्ष इष्ट की सिद्धि और अनिष्ट का

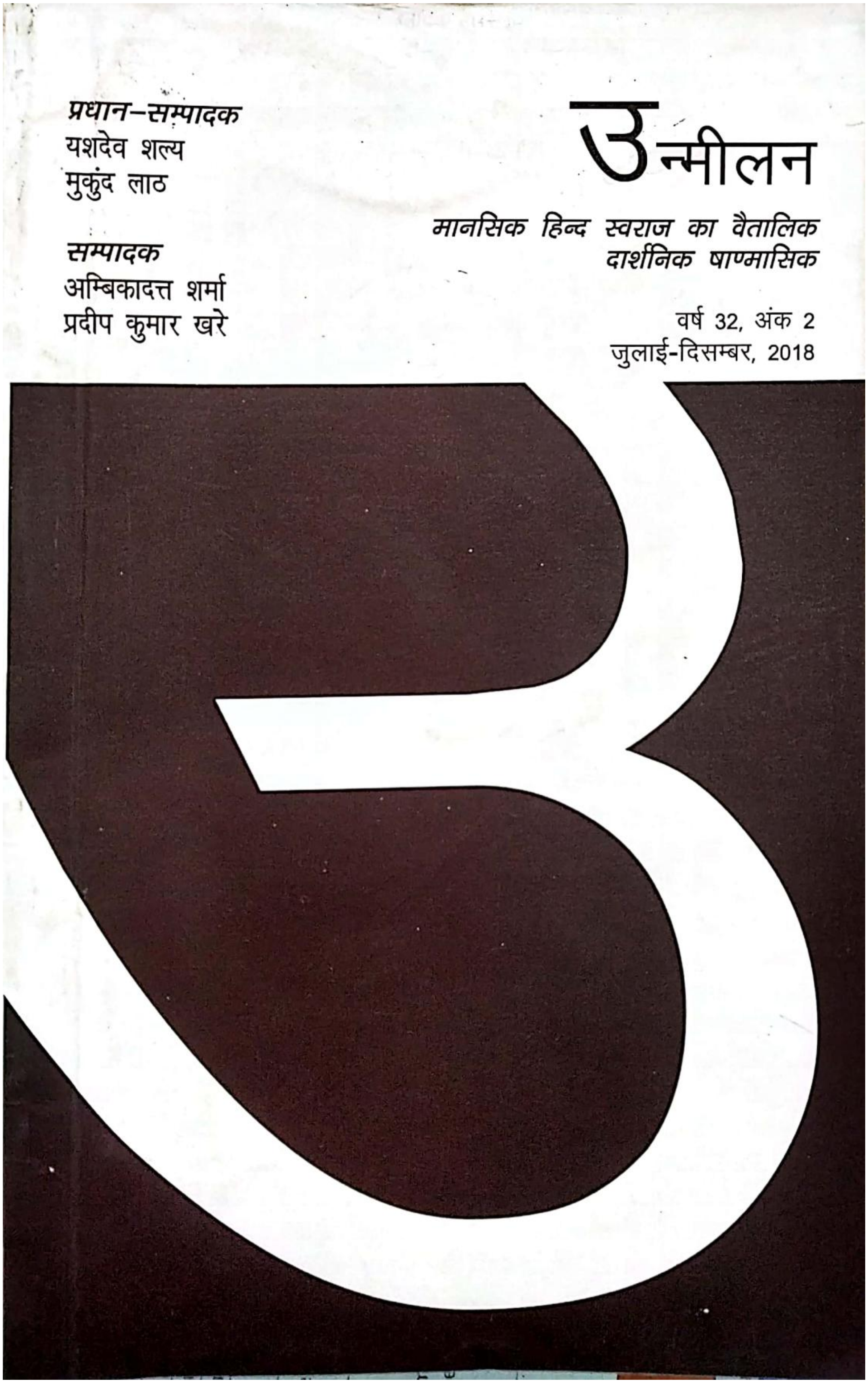

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 32, अंक 2
जुलाई-दिसम्बर, 2018

अनुक्रमणिका

1. रामावतार शर्मा और उनका परमार्थदर्शनम् 5
राधावल्लभ त्रिपाठी

2. परपिचुअल पीस : काण्ट का राजनीति–दर्शन 27
संजय कुमार शुक्ला

3. रामायण का सत्य और महाभारत का धर्म 46
अम्बिकादत्त शर्मा

4. प्रसन्नता, संतुष्टि और स्वतंत्रता 61
अशोक वोहरा

5. मध्यमावतारः 71
मूल लेखक – आचार्य ज्ञानश्रीमित्र
हिन्दी रूपान्तरकार – डॉ. वृजकिशोर त्रिपाठी

6. पुस्तक–समीक्षा : शंकराचार्य एवं सार्त्र के दर्शन में मानव–नियति 112
दिग्विजय मिश्र

रामायण का सत्य और महाभारत का धर्म

अम्बिकादत्त शर्मा

कोई भी महाकाव्य किसी संस्कृति और सभ्यता का एक वाङ्मय–विग्रह होता है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व बहुत बड़े फलक पर जीवनानुभव का अवलोकन और अवगाहन है। यह अवगाहन बाह्य–दर्शक की भूमिका में न किया जाकर अंतरंग चित्तभूमि पर किया जाता है। इसी के चलते महाकाव्यों में इतिहास को सन्दर्भित करने वाले एक कथानक के माध्यम से सांस्कृतिक जीवन के अन्तर्विरोधों, अन्तर्द्वन्दों, जटिलताओं और इतिहास की प्रयोजनमूलकता का आदर्शोन्मुख समाधान उस संस्कृति की विश्वदृष्टि के सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में सम्भव हो पाता है। अतः महाकाव्यों में एक आदर्शोन्मुखी जीवन–दृष्टि निरपवाद रूप से रूपायित तो होती है लेकिन उनकी आदर्श–चेतना एक जैसी हो, यह आवश्यक नहीं। यहाँ तक कि एक ही सांस्कृतिक परम्परा के दो या दो से अधिक महाकाव्यों की आदर्श–चेतना में गहरे भेद के लक्षण देखे जा सकते हैं। इस भेद का कारण महाकाव्यों के प्रस्थान बिन्दु का भिन्न–भिन्न होना है। वस्तुतः इसी भिन्नता में महाकाव्यों की निजी विशिष्ठता निहित होती है। यह प्रस्थान–भेद तत्तद् महाकाव्यों के कथानक, इतिहास बोध और रचना काल से निर्धारित नहीं होती बल्कि उस आधारभूत मूल्यबोध से निर्धारित होती है जिसे नींव का पत्थर बनाकर महाकाव्यों में मूल्यव्यवस्था का एक प्रासाद, एक वाङ्मय–विग्रह तैयार किया जाता है। महाकाव्यों के नायकों के जीवन–चरित अथवा उनकी भूमिका के द्वारा जिस मूल्य या आदर्श को प्रतिष्ठापित किया जाता है, उसी से प्रस्थान–भेद को पहचानना सम्भव हो पाता है।

I

भारतीय परम्परा में रामायण और महाभारत वाल्मीकि और वेदव्यास रचित दो ऐसे महाकाव्य हैं जिनके माध्यम से दो युगों की आर्ष–संस्कृति अपनी सोलहों कलाओं के साथ वाग्–विग्रहित हुई है। वाणविद्ध क्रौंच मिथुन के शोक से निःसृत रामायण के चौबीस हजार श्लोक

मानो "सप्तभिर्युक्तं तंत्रीलयसमन्वितम्" हैं।[1] महाभारत के विषय में तो स्वयं वेदव्यास ने ही कहा है– "यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्" अर्थात् जो महाभारत में नहीं वह कहीं भी नहीं है।[2] आर्ष–संस्कृति का आदर्श है– देवो भूत्वा देवं यजेत्। हम देव की अर्चना–उपासना देव बनने के लिए करते हैं। इसलिए महाकवि रवीन्द्र नाथ टैगोर ने उचित ही कहा है कि "रामायण में देवता अपने को खर्व बनाकर मानव नहीं बने, अपितु मानव स्वयं ही गुणों से देवता बन गया।"[3] ऐसे ही श्री अरविन्द का कथन है कि "भारतवासी की कल्पना में रामायण मनुष्य–चरित्र के श्रेष्ठतम और मधुरतम आदर्श की प्रतिमूर्ति है।"[4] परन्तु हिमालय के शिखरों और साधुओं से घिरे कैलाश चूड़ से तुलनीय 'महाभारत' और शिव की जटाओं में जड़ित 'तपोस्तेपे तपोधना जाह्णवी' से उपमेय 'रामायण' का प्रतिपाद्य और प्रस्थान बिन्दु एक ही नहीं है। इतना ही नहीं, गायत्री स्वरूपा 'रामायण'[5] और नानापुराणनिगमागम सम्मत 'रामचरितमानस' की कथावस्तु बहुत अंशों में एक होते हुए भी दोनों के प्रतिपाद्य और प्रस्थान बिन्दु अलग–अलग हैं।

वाल्मीकि रामायण 'सत्य' का प्रतिष्ठापक महाकाव्य है और महाभारत में अद्यतन 'धर्म' की प्रतिष्ठा की गई है। एक में भारतीय संस्कृति की सम्पूर्ण मूल्य–व्यवस्था और आदर्श–चेतना को सत्य में मूलित किया गया है तो दूसरे में वह पूरे तौर से धर्माधारित है। रामायण का महामंत्र और मूलभित्ति 'धर्मः सत्यपरोलोके'[6] है तो महाभारत का मूलमंत्र 'यतोधर्मस्ततो जयः'[7] है। दोनों महाकाव्यों के दो महानायक यद्यपि परमब्रह्म परमात्मा के अवतार हैं फिर भी सत्याधृति यदि दाशरथी राम का उपलक्ष्यक गुण है तो धर्माधृति योगेश्वर कृष्ण का व्यावर्तक लक्षण है। इसलिए यह कहना सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है कि रामायण की फलश्रुति सत्यनिष्ठा में है और महाभारत का पर्यवसान धर्मनिष्ठा में होता है।[8] परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि दोनों महाकाव्यों की निज निष्ठा में सत्य और धर्म परस्पर एक दूसरे के परिहारक हैं। वस्तुतः दोनों महाकाव्यों की मूलभूत समस्या सत्य और धर्म का एक दूसरे में अवधारणात्मक रूपान्तरण के द्वारा दो युगों को सन्दर्भ बनाकर एक पर दूसरे की वीरयता को स्थापित करना है। रामायण में धर्म को सत्य में (सत्याधारित धर्म) और महाभारत में सत्य को धर्म में (धर्माधारित सत्य) रूपान्तरित किया गया है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति और सभ्यता में 'सत्य' और 'धर्म' मूल्यबोध के दो परस्पर स्वायत्त प्रतिमान हैं। इसलिए

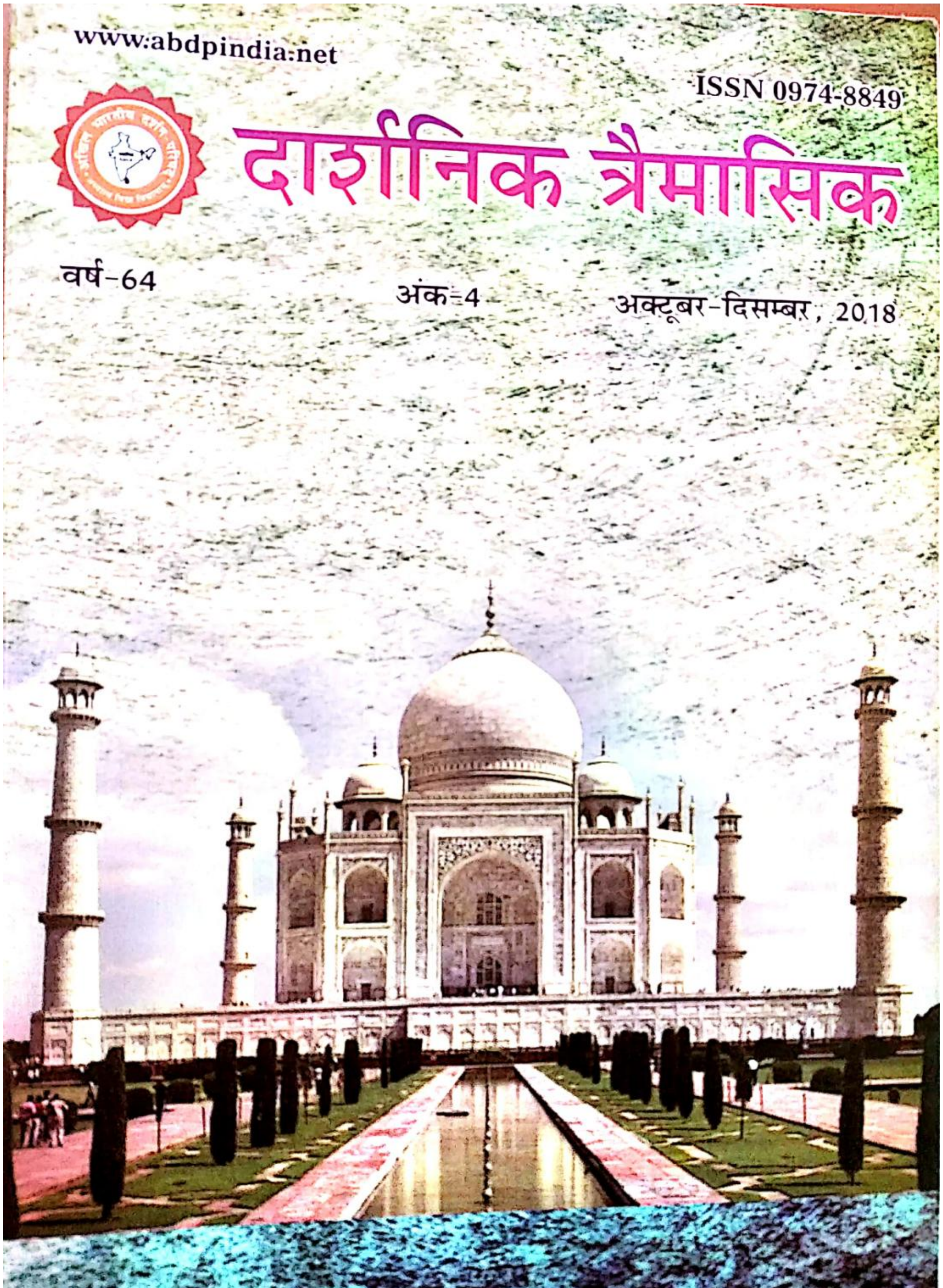
www.abdpindia.net
ISSN 0974-8849
दार्शनिक त्रैमासिक
वर्ष-64
अंक-4
अक्टूबर-दिसम्बर, 2018
अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

दार्शनिक त्रैमासिक
वर्ष-64, अंक-4, अक्टूबर-दिसम्बर, 2018

ISSN: 0974-8849
अभिनिर्देशित

चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया में पुरूषार्थ की भूमिका

डॉ॰ सत्यनारायण देवलिया*

चरित्र निर्माण में पुरूषार्थ की भूमिका जानने से पहले नीतिशास्त्र के माध्यम से यदि हम चरित्र की अवधारणा को समझने का प्रयास करें तो प्रतीत होता है, कि चरित्र मनुष्य की अपनी मानसिक और नैतिक प्रकृति है, जिसके कारण वह दूसरे मनुष्य से भिन्न है।[1] विवेक बुद्धि मनुष्य की विशेषता है पर उसकी शारीरिक प्रकृति या मानसिक और नैतिक प्रकृति के कारण उसमें भेद है। प्रारम्भ में कुछ अंशों तक मनुष्य के कर्मों का निर्णायक उसकी जन्मजात प्रवृत्तियाँ होती है।। इस दौरान हम कभी उचित कर्म का और कभी अनुचित कर्म का संकल्प लेते हैं। पर जैसे-जैसे हमारी उन प्रवृत्तियों का बुद्धि द्वारा नियंत्रण और परिष्कार होता है और उचित या अनुचित संकल्प करने का अभ्यास बढ़ता है। विशेष ढंग की इच्छा के अभ्यास को और विचार प्रवृत्ति को मनुष्य की नैतिक और मानसिक प्रकृति कहा जाता है। अत: चरित्र का अर्थ हुआ संकल्प (इच्छा) का अभ्यास है।[2] चरित्रवान वह मनुष्य है जो अभ्यास पूर्वक अच्छा संकल्प करे और इसके विपरीत चरित्रहीन वह मनुष्य है जो अभ्यासपूर्वक बुरा या अनुचित संकल्प करे। संकल्प चरित्र को अभिव्यक्त करता है। संकल्प या उससे उत्पन्न आचरण का गहरा सम्बन्ध चरित्र से होता है। आचरण मनुष्य का ऐच्छिक या अभ्यास जन्य कर्म होता है। हम यह कह सकते हैं कि चरित्र अव्यक्त आचरण व्यक्त चरित्र है। इसीलिए चरित्र या आचरण से मनुष्य के व्यक्तित्व का पता लग जाता है।[3]

यह सत्य है कि जब एक विशिष्ट प्रकार का दृष्टिकोण आदत के रूप में आ जाता है तो वह चरित्र का अंग कहलाता है। और इसी को दृष्टिगत रखते हुए अरस्तु का कथन है कि 'सदगुण आदत है'। परन्तु हम चरित्र को

* जनरल फैलो (आई.सी.पी.आर.), दर्शनशास्त्र विभाग, डॉ॰ हरीसिंह गौर वि.वि., सागर (म॰प्र॰)।